स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना के स्वर

विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा

की पी-एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तावित

शोध-प्रारूप

संकाय-मानविकी

विषय-हिन्दी

शोध निर्देशक

डॉ० आनन्द प्रकाश गुप्ता
एसोसिएट प्रोफेसर
विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा

शोधप्रज्ञ

प्रवीण कुमार मंडल
विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
पैट क्रमांक- 22090329

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना के स्वर

1. शोध विषय की आवश्यकता

हिंदी साहित्य के इतिहास में आदिवासी-विमर्श की धारा दलित-विमर्श की उत्तर-पीठिका का प्रतिरूप लिए हुए प्रस्तुत जरूर होती है, परंतु आदिवासी स्वर 'मैं' से 'हम' की सार्वजनिक-सामासिक दूरी तय कर 'व्यक्तिगत चिंतन' से परे 'सामूहिक चिंतन' की ओर प्रवाहमान है। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही आदिवासी साहित्य-विमर्श की भूमिका हिंदी साहित्य के फलक पर ध्वनित और प्रतिबिंबित होती दिख रही है। दरअसल 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही आदिवासी साहित्यिक गतिविधियां महाराष्ट्र से अंकुरित होकर भारत के सुदूर अंचलों तक बढ़ती चली गई। जिस प्रकार दलित साहित्य की मातृसाहित्य मराठी समझी गई है, तथा इसमें दलित साहित्य ही नहीं अपितु मराठी साहित्य के विकास को एक नई दिशा मिली, बेशक इसके कई परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। साहित्यकारों की इसी सोच ने इस दिशा में एक नए कलेवर के साथ-साथ हिंदी साहित्य की रचनाओं में विमर्श का निर्णायक आगाज किया। फलस्वरुप आज आम आदमी, दलित, आदिवासी, दीन-हीन और हासिये के समाज जिसे जान बूझकर सीमांत के बाहर धकेल दिए गए, उनकी साहित्यिक परंपराएं, वाचिक और मौखिक साहित्य आज अनिवार्य व स्वीकार्य होती जा रही है।

जाने माने आदिवासी लेखक गंगा सहाय मीणा ने कहा है कि, "1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से तेज हुई आदिवासी शोषण की प्रक्रिया के प्रतिरोध स्वरुप आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा के लिए राष्ट्रीय स्तर पर पैदा हुई रचनात्मक ऊर्जा आदिवासी साहित्य है।" आज जब हम आदिवासी साहित्य की अवधारणा एवं हिंदी साहित्य में आदिवासी चेतना की बात करते हैं, उसकी सैद्धांतिकी और दर्शन की बात करते हैं तब हमें आदिवासी समाज के इस मूल दार्शनिक पृष्ठभूमि को केंद्र में रखना होगा, क्योंकि उसके साहित्य की अवधारणा में शब्द, नृत्य, गीत- संगीत, चित्र और उसका विश्वास, प्रकृति, मानवीय सरोकार, लोक जीवन और समूची समष्टि समाहित है। साहित्य समुच्चय है और इनकी अभिव्यक्तियाँ भी।

आदिवासी कवि अनुज लगुन की मान्यता है कि, “आदिवासी भाषा में लिखित आदिवासी साहित्य पर सबसे ज्यादा काम करने की जरूरत है। यह अब भी अपने मूल आदिम रूप में ही है। यहीं पर आदिवासी समाज की सोच, चिंतन और वैचारिकी की ठोस अभिव्यक्ति मिलती है। अरुणाचल प्रदेश की आदिवासी लेखिका पद्म श्री ममांग दई कहती हैं, “मै आदिवासी हूँ और भूगोल, लैंडस्केप मिथक व हमारी पुरखा कहानियाँ……… यह सब ही मेरी विचार प्रक्रिया को आकार देते हैं। और अंत में आदिवासी चेतना के स्वर और साहित्य के संबंध में विनायक तुकाराम के अनुसार, “आदिवासी साहित्य वन संस्कृति से संबंधित साहित्य है। आदिवासी साहित्य उस जंगलों में रहने वाले वंचितों का साहित्य है जिनके प्रश्नों का अतीत में कभी उत्तर ही नहीं दिया गया है। यह ऐसे दुर्लक्षितों का साहित्य है जिनके आवाज को मुख्यधारा की समाज व्यवस्था ने कभी कान ही न दिये।”

लेकिन भारतीय परिप्रेक्ष्य में आदिवासियों का जो साहित्यिक चेहरा और स्वर दिखाई देता है वह बहुत ही धुंधला–सा है। ‘आदिवासी कौन है’ शीर्षक में डॉ० विनायक तुकाराम बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि– “भारत में अनेक जाति, जनजातियों, धर्म-पंथों तथा सांस्कृतिक-सम्प्रदायों का भंडार है। आर्यों का भारत आगमन, आर्य-अनार्यों के मध्य चला दीर्घकालीन संघर्ष, आर्यों द्वारा अनार्यों का क्रूर संहार और आतंक, जिसके चलते उन्हें गिरी-कुहरों तथा वनों में आश्नय लेना पड़ा, कोई मजेदार घटना नहीं है जिन्हें पढ़कर भुलाया जा सके। सही अर्थों में यहीं से आदिवासियों की सामाजिक दुर्दशा का प्रारंभ हुआ। यहीं उनके वनवास की कालरात्रि की शुरुआत है। उनके पिछड़ेपन का मुख्य कारण बनी वर्णव्यवस्था भी यही से शुरू हुई और उन्हें वनों-जंगलों की ओर भागने का कार्य भी तभी संपन्न हुआ। वे आगे लिखते हैं- “सैकड़ो साल बीत गए पर आज भी अनार्य आदिवासी जंगलों और गिरी-कुहरों में समूह में रहकर जीवन यापन कर रहे हैं। दैत्य, पिशाच, राक्षस, असुर ऐसे अनेक उपहासपूर्ण शब्दों में अनार्यों के अस्तित्व की चर्चा वैदिक साहित्य तथा रामायण महाभारत आदि में की गई है। इसमें यह आसानी से समझा जा सकता है कि उनके जीवन को देखने की तत्कालीन समाज नीति क्या होगी? रामायणकार तथा महाभारतकार ने उनके व्यक्तित्व का जो भयावह चित्र खींचा है उसमें बहुजन समाज में उनके प्रति कोई सहानुभूति नहीं रही है। रामायण की भीलनी शबरी और महाभारत का एकलव्य, यह चरित्र भारतीय सामाजिक जीवन में सहानुभूति तथा आदर का हास्यास्पद दिखावा भर है।”

आधुनिक काल में हिंदी साहित्यिक रचनाओं में आदिवासी चेतना के स्वर को अगर समग्रता के साथ ढूंढेंगे तो इसकी परंपरा समृद्ध नहीं रही है। स्वतंत्रता पूर्व हम मुख्य धारा के साहित्यकारों में प्रेमचंद से ही शुरुआत करें तो पाएंगे कि प्रेमचंद ने अपने श्रोताओं-पाठकों के लिए आदिवासी पात्रों का प्रयोग किया है, फिर भी उनकी रचनाओं में दो जगह आदिवासियों की चर्चा मिलती है। 'गोदान' में और 'सद्गति' कथा में। गोदान उपन्यास में शिकारी प्रसंग में मेहता-मालती दल का भटकाव के बाद मुलाकात वनकन्या अर्थात आदिवासी लड़की से होती है। इसमें लेखक उसकी कुरूपता का वर्णन भले ही किया, पर उनके पात्र मेहता उसके मांसल सौंदर्य का वर्णन करते हैं। सद्गति कहानी में आदिवासी संदर्भ में प्रेमचंद ने विद्रोही चेतना का परिचय कराया है, जब पंडित घासीराम के सामंती गांठ को चिड़ते-चिड़ते दुखिया की मृत्यु हो जाती है। तभी चिखुरी गोंड चमरौने में जाकर वहीं दलित को इस अन्यायों का खबर देता है और उन्हें आंदोलित करने की कोशिश करता है- "खबरदार! मुर्दा उठाने मत जाना, अभी पुलिस की तहकीकात होगी, दिल्लगी है एक गरीब की जान ले ली। पंडित जी होंगे तो अपने घर के होंगे।", इस तरह गोंड चिखुरी में चेतना का स्वर सामंती मूल्यों के विरुद्ध एक आशा की किरण है।

स्वाधीनता के पश्चात हिंदी साहित्य में दो प्रवृत्तियां रेखांकित की जा सकती है। पहली, अनुभवजन्य सत्य की प्रवृत्ति और दूसरी, अपेक्षित अंचलों की साहित्य में अभिव्यक्ति। फलस्वरुप आदिवासी चेतना का स्वर साहित्य में जगह पाने लगी। 'मैला आँचल' में रेणु जी ने अपनी दूरदृष्टि से सभी राजनीतिक दलों को कटघरे में खड़ा किया हैं तथा कहते हैं– उनके शोषण के मामले में सभी दल एक से हैं। इस उपन्यास में संथाल से स्थानीय परती जमीन तथा बनैली जमीन देकर उससे उपजाऊ तो जरूर बनवा लेते हैं, पर जमीन जब खेती लायक हो जाती है तब उन्हें इस जमीन से बेदखल करने के लिए साजिश रचकर आदिवासियों को ही खदेड़तें हैं। फलस्वरुप वे अपने पारंपरिक हथियार तीर-धनुष से लड़ाई करते हैं और अपनी चेतना को मरने नहीं देते हैं। उनकी चेतना का अंत करने की कोशिश तब होती है जब आजादी की घोषणा होती है तथा उसी दिन स्थानीय जमींदारों-महाजनों के प्रभाव से संथालों को जेल जानी पड़ती है।

विद्वानों में मतभेद है प्रथम आदिवासी लेखक को लेकर। कुछ लोग देवेंद्र सत्यार्थी के उपन्यास 'रथ के पहिए' 1952 को पहली आदिवासी केंद्रित उपन्यास मानते हैं तो कुछ लोग 'मैला आँचल' में आए संथाल

आदिवासियों के प्रसंग को। समीक्षक गोपाल राय लिखते हैं," 'रथ के पहिए' में पहली बार मध्य प्रदेश के गोंड जनजाति के जीवन यथार्थ का प्रामाणिक और संवेदना संचित जीवन अभिव्यक्त हुआ है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आदिवासी साहित्यिक रचनाओं में तीन धारा के अंतर्गत की रचनाएं हैं।

पहले धारा के अंतर्गत वे उपन्यास हैं जिनका उद्देश्य आदिवासी जीवन से बाहरी समाज को परिचित कराना है, इसमें आदिवासी जीवन का प्रस्तुतीकरण विचित्रता के साथ अंधविश्वास, जादू-टोना, पिछड़ेपन, घोटुल प्रथा अथवा गत्योरा का स्वच्छंद रोमांटिक चित्रण किया गया है। इसमें आदिवासी मनुष्यता से हीन बर्बर और असत्य के रूप में तीर-धनुष के साथ मौज मस्ती कर जीवन बिता रहे हैं। अपने जीवन के प्रति उनका कोई भी संवेदना नहीं है। ऐसे लेखकों में योगेंद्र नाथ सिंहा, राजेंद्र अवस्थी और शानी जैसे रचनाकारों को शामिल किया जा सकता है। दूसरी कोटि में हम उन उपन्यासकारों को रख सकते हैं जिसमें उनके विचारधारा हावी है। इसमें आदिवासी समाज एक वर्गवादी नजरिया के रूप में प्रस्तुत किया गया। वे सर्वहारा के रूप में अपने जीवन संघर्ष को पटरी पर लाने का जद्दोजहद दमित जिजीविषा के साथ कर रहे हैं। इस कोटि में राकेश कुमार सिंह, मधु कांकरिया, संजीव, विनोद कुमार, मनमोहन पाठक जैसे रचनाकारों की विचार यात्रा को समाहित कर सकते हैं। और तीसरे कोटि में हम ऐसे उपन्यासकारों को रख सकते हैं जिन्होंने आदिवासी समाज व्यवस्था, धर्म और संस्कृति जैसे संपूर्ण आयाम को अपनी लेखनी के पासे में बांधने का भरसक प्रयास किया है। 1956 में 'ब्रह्मपुत्र' देवेंद्र सत्यार्थी ने लिखा, जिसमें उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र की जीवन गाथा को ब्रह्मपुत्र नदी की बाढ़ और उसकी विभीषिका को आदिवासी स्वर चेतना के रूप में उपस्थित किया है।

'कब तक पुकारू' उपन्यास जिसमें रांगेय राघव ने राजस्थान की 'जरायम पेशा' नट जाति के जीवन यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। उस पर सामंती कहर के साथ-साथ सरकारी औपनिवेशिक क्रूरता की सीमा लाँघते दिखाया गया है। कई घुमंतू आदिवासियों के समूहों की सरकारी एक्ट (1871 आदिवासी क्रिमिनल एक्ट) है। इस उपन्यास का आधार उनके खानाबदोश जीवन है। योगेंद्र सिंहा जी के 'वन लक्ष्मी' बिहार झारखंड के 'हो' जनजातियों पर लिखा गया एक एप्रोच रूमानी उपन्यास है। उन्हीं का दूसरा उपन्यास 'वन के मन में' 1962 इसी कोटि का है। वीर भारत तलवार इसके संदर्भ में लिखते हैं- 'जो मैदान यथार्थ जीवन में जीतना संभव नहीं था वह

मैदान उन्होंने उपन्यास में जीत लिया। समुद्र के साथ आदिवासी मछुआरों की संघर्षरत जिंदगी दैनिक जीवन के खतरे को 1956 में उदय शंकर भट्ट ने अपने उपन्यास 'सागर लहरें एवं मनुष्य' में लिखा। राजेंद्र अवस्थी का उपन्यास 'जंगल के फूल' में गोंड आदिवासी की रोमांस यात्रा केंद्रित हैं। इसमें आदिवासियों की संस्कृति और घोटुल जैसे प्रथाओं का मधुमासी वर्णन किया गया है। शानी का उपन्यास 'शाल बनों के द्वीप' एक संस्मरणात्मक उपन्यास है इसमें 'नाडिया गोंड' समुदाय के लोगों का जीवन जो मध्य प्रदेश के अबूझमार के अंधेरी जंगलों में खोई हुई है। यथार्थ रूप देकर तथ्यात्मक विवरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्हीं का एक दूसरा उपन्यास 'कस्तूरी' 1960 और 'सांप सीढ़ी' में भी आदिवासियों की यथार्थ जीवन का चित्रण है। बस्तर इलाके का एक गाँव कस्तूरी को समझने का प्रयास किया गया है। इसमें आदिवासी जीवन अपनी जिजीविषा के लिए अनुकूलन और सामंजस्य जैसे व्यवस्था को अपने जीवन शैली में ढाले हुए हैं। 1989 में शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास 'शैलूष' जो नट जाति के कबीलाई जीवन पर आधारित है को एक नवाचार पद्धति में लिखने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास में एक ब्राह्मण युवती सावित्री जो शिक्षित है एक नट युवक से प्रेम विवाह करती है और वह उच्च वर्ग के दमन और शोषण के विरुद्ध एक आंदोलन छेड़ देती है।

2002 में तेजिंदर का 'काला पादरी' धर्मांतरण को आधार बनाकर लिखा गया है, इसमें दो संस्कृतियों की टकराहट की कथा है। आदिवासी चेतना के स्वर से पगी उपन्यास वीरेन्द्र जैन के 'दूब और पार' भी कम मारक नहीं है। जिसमें वे बेतवा नदी पर बांध के चलते विस्थापन और दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए व्यवस्था से संघर्ष करता नजर आता है। मनमोहन पाठक के 'गगन घटा गहरानी' उपन्यास में आदिवासी जीवन सामंती शक्तियों के संघर्ष का केंद्र बनते नजर आते हैं और उपन्यास में नक्सलवादी आंदोलन की चित्र भी बया करते हैं- "वाह, भाई वाह! अभी तक तो बंगाल और भोजपुर में ही सुना था फसल दखल। ई देखिए अब यहाँ भी शुरू हो गया है- हुई लड़ाई जम के बुझात बा।" यहाँ आदिवासी स्वर-चेतना जो अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध में खड़ा दीखता है, एक उत्कृष्ट रचना है। विनोद कुमार का 'समर शेष है' उपन्यास झारखंड में चलाए जा रहे आंदोलन धन कटिया से संबंधित है और स्वयं विनोद कुमार झारखंड के आदिवासी जीवन से जुड़े हैं। इसलिए शिबू सोरेन, ए. के. राय और विनोद महतो के नेतृत्व में चले इस आंदोलन को उपन्यास केंद्रित करता है। तेजिंदर के 'काला

पादरी' उपन्यास आदिवासियों में धर्मांतरण के बाद एक टीस को जन्म देता है और वह टीस विद्रोह के रूप में स्वर चेतना से लैस हो जाती है।

राकेश कुमार सिंह का उपन्यास 'पहाड़ पर कोहड़ा' 2003 एक महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसमें राकेश जी ने भारतीय सफेद-पोश लेखकों का पर्दाफाश किया है और उसमें प्रश्न उठाया है कि हाशिये के समाज आदिवासी जैसे लोगों को किस प्रकार से खलनायकों के रूप में हुए अपने साहित्यिक रचना में जगह दे पाते हैं। अनुभव जन्य सत्य और भोगा गया यथार्थ को लेकर महाश्वेता देवी की उपस्थिति साहित्यिक जगत में एक प्रेरणादायक के रूप में है। वे इस आदिम समाज के लोगों के बीच आदिवासी माँ के रूप में जानी जाती हैं। महाश्वेता देवी आदिवासी स्वर चेतन को न केवल साहित्यिक रचनाओं में पिरोया है, बल्कि उनके दुख-दर्द, मुसीबत के क्षण और जोर-जुल्म में कंधे से कंधा मिलाकर सड़क से लेकर न्यायालय तक का संघर्ष किया है। इसीलिए वह एक मार्ग और नयी दृष्टि-बोध को जन्म दे पाई हैं। पश्चिम बंगाल के 'शबर' जातियों पर हो रहे अत्याचार को 'बुधन शबर' जैसे पत्रिकाओं में डालकर उनके स्वर-चेतना को आदिम जगत में एक प्रेरणा स्रोत बना पाती हैं। अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों के रूप में महाश्वेता देवी और गोपीनाथ महंती जैसे लेखक सर्वाधिक लोकप्रिय हुए। प्रोफेसर वीर भारत तलवार ने महाश्वेता देवी के संबंध में लिखा है- "उनमें आदिवासियों के आर्थिक शोषण से संबंधित बहुत सारे तथ्य दिए गए हैं, पर लेखिका के पास आदिवासी समाज को देखने समझने की कोई अंतर-दृष्टि नहीं है। उन्होंने एक सामान्य और चिर-परिचित वामपंथी दृष्टि से ही अपना काम चलाया।" मेरे विचार से तलवार सर की यह विचारोक्ती सही नहीं लगती है– जिस साहित्यकार ने 'जंगल के दावेदार' रचना पर उन्हें मिली लाखों रुपए आदिवासी ट्रस्ट को दान कर दी, आदिवासियों के बीच बरसों रहकर अपने साहित्यिक रचना को यथार्थ के सीमांकन में डालकर अमली जामा पहुंचाया हो, जिनके रचनापात्र कोई काल्पनिक न होकर आदिवासी संतानों के बीच से ही उठाया हो, जो आदिवासियों की भूख से सुखा भात सानकर खाया हो, उस मानवीय और संवेदित हृदय के धनी लेखिका के बारे में इस प्रकार की दृष्टि पूर्वाग्रह नहीं तो और क्या है?

21वीं सदी के शुरू में हरिराम मीणा लिखित उपन्यास 'धुनी तपे तीर' जो भारतीय इतिहासकारों की नैतिकता एवं देश भक्ति पर प्रश्न खड़ा करता है तथा साक्ष्य के साथ ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत कर यह साबित

कर पाने में सफल होता हैं कि प्रथम 'जलियावाला बाग कांड' 1919 में अंग्रेजों ने ही केवल नहीं किया जिसमें 400 से अधिक लोग शहीद हुए, बल्कि इसके पूर्व 1913 में राजस्थान के बांसवाड़ा जिले में मानगढ़ नामक स्थान पर क्रूर नरसंहार हुआ जिसमें 1500 से अधिक आदिवासी शहीद हुए। इसमें एक खास बात यह थी कि यह नृशंस हत्या सिर्फ अंग्रेजों ने नहीं की, अपितु इनके साथ राजवाड़े, जमींदार एवं महाजन भी मिले थे। इस आंदोलन का नेतृत्व गोविंद गिरी कर रहे थे। कारण था आदिवासियों द्वारा बैठ, बेगार, भाड़ी लगान और वन संपदा के आदिवासी उपयोग पर पाबंदी। भारतीय इतिहासकारों ने यहाँ चुप्पी साध ली, लेकिन आदिम जन अपने प्राण उत्सर्ग कर अपनी आत्मीय चेतना के स्वर को तिरोहित नही होने दिया।

सन 2000 ई० में प्रकाशित संजीव के उपन्यास 'जंगल जहां शुरू होता है की पटकथा आंचलिक है। यह उपन्यास मिनी चंबल के नाम से कुख्यात पश्चिमी चंपारण की नेपाल तक की सीमा में लगे क्षेत्र से संबंध रखता है, जहाँ के आदिवासियों पर जन्मना डाकू होने का आरोप हैं। यह उपन्यास एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है जिसके मूल में लेखक की यह भावना है कि कोई भी जाति जन्मना डाकू नहीं होती। वस्तुतः व्यवस्था ही किसी व्यक्ति या जाति को डाकू बनने पर मजबूर करती है। संजीव के उपन्यास में आदिवासी चेतना का स्वर प्रतिरोधी है, संजीव आदिवासियों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक समस्याएँ और शोषण आदि से घृणा, संघर्ष और असंतोष को आधार बनाकर अपने उपन्यास का कथानक बुनते हैं।

'धार' उपन्यास के केंद्र में झारखंड के कोयलांचल की ज्वलन्त समस्याओं का चित्रण किया गया है, जहाँ सरकार और माफियाओं के गठजोड़ से सरकारी कोयला खदान को लूटा जा रहा है, वहाँ आदिवासी स्त्री मैना की आदिवासी चेतना उस अंचल के लोगों में मुखरता के साथ खड़ी दिखती है तथा स्थानीय लोगों के जल-जंगल-जमीन तथा रोजी-रोटी- रोजगार के लिए रणचंडी बनती दिखती है।

भगवान दास मोरवाल के उपन्यास 'रेत' हरियाणा के कंजर जनजाति के सामाजिक सांस्कृतिक संरचनाओं को बुनता हैं। कंजर पर लगे जरायम पेशा (अपराध प्रवणन) में जाति जनित कलंक मुक्ति के लिए संघर्ष है। इस उपन्यास में कंजरों को पुलिस, अफसरों, प्रशाशकों द्वारा हो रहे शोषण को व्यक्त करता है। 'रेत' उपन्यास में साहब लोगों द्वारा यौनसुचिता की सारी हदें को पार कर दी जाती हैं ज़ब प्रशासनिक थानेदार कहता है- यही कि बिना

इजाजत या इत्तला दिए कोई कंजर गांव छोड़कर नहीं जा सकता यहाँ तक की महिलाओं को भी थाने में जाकर हाजिरी देना पड़ता है।

महुआ माजी के उपन्यास ‘मरंग गोरा नीलकंठ हुआ’ झारखंड में ‘हो’ आदिवासी के ऊपर हो रहे अमानवीय क्रूरता का चित्रण करता है। जादूगोड़ा जैसे सुदूर आदिवासी अंचलों में यूरेनियम अपशिष्ट डंपिंग का केंद्र बना डाला गया है जहाँ लाखों टन यूरेनियम कचरा प्रतिवर्ष फेके जाते हैं। जिसके विकिरण से वहाँ के स्थानीय जान- माल एवं भू-संपदा प्रभावित होकर अपने अस्तित्व को खोते जा रहे हैं। वहाँ आदिवासियों का प्रतिरोध दमित स्वर में चित्रित है।

मैत्रीय पुष्पा की ‘अल्मा कबूतरी’ बुंदेलखंड की ‘कबूतरी’ जनजाति के ऊपर लगे अंग्रेजों के काला कानून (1871 अपराध प्रवणन, जरायम पेशा) के आरे में आदिवासी स्त्रियों के शोषण का चित्र खींचा गया है जहाँ आदिवासी कन्याओं को कुंवारी माँ बनने को विवश होना पड़ता है। इस उपन्यास में स्त्री शोषण का अवचेतन स्वरांकन किया गया है। प्रतिष्ठित आदिवासी लेखक रणेन्द्र के महत्वपूर्ण उपन्यास ‘ग्लोबल गांव के देवता’ में झारखंड के विलुप्त होते ‘असूर’ जनजातियों को केंद्र में रखकर लिखा गया महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें आदिम असुर जनजातियों में शोषण-विस्थापन को उजागर किया है तथा वैश्वीकरण के दुष्परिणामों को आकाशचारी देवताओं के रूप में उजागर किया हैं। उपन्यास में असूर यानि-राक्षस, मायावी दानव, बड़े-बड़े दांतो वाले अमानवीय प्राणी जैसे मिथकीय भ्रम को तोड़ने का प्रयास किया गया है।

हिंदी साहित्य में आदिवासी चेतना से तात्यर्य आदिवासियों की मुखरता एवं स्वत्य की भावना का विकास से है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संवैधानिक स्वतंत्रता, बंधुता, समाजवादी व धर्मनिरपेक्षतर संकल्पनाऐं आदि कुछ कम ही सही, पर हाशिये के समाज में चेतना के स्वर का बीजारोपण किया। उस अंकुरण से उसके कोंपल तक का संरक्षण व संवर्धन किया। आये दिन आदिवासी समाज व साहित्य पर काफी बातें हो रही है, पर यह समाज आज भी अनगिनत चुनौतियों से जूझ रहा है। जाने माने हिंदी साहित्यकार एवं आदिवासी लेखक हरिराम मीणा ने कहा, “हिंदी साहित्य के प्रतिष्ठित लेखकों से अपेक्षा थी कि वह स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक, आदिवासी एवं हाशिये पर डाली जाती रही अन्य अस्मिताओं को अपेक्षित अभिव्यक्ति देते, वह अपेक्षा पूरी नहीं हुई यही वजह है कि इन

अस्मिताओं से जुड़े लेखन का एक मुहिम के तौर पर हिंदी साहित्य में हस्तक्षेप करना पड़ा और अपनी पहचान बनाने के लिए जूझना पड़ा।" जब आदिवासी लेखक अपनी पहचान एवं अस्मिता को लेकर मुखर हुए तभी आदिवासी चेतना का स्वर साहित्य के माध्यम से उभर कर आने लगी। तब कुछ सफेदपोश लेखकों ने यह कह कर 'आदिवासी विमर्श' साहित्य को नकार दिया कि उसमें शालीनता एवं सौंदर्यबोध का अभाव है। जबकि सत्य है कि आदिवासी जीवन और समाज किसी प्रकार के शास्त्रीय सिद्धांत के बंधन को नहीं मानता। वे मौखिक एवं समृद्ध साहित्यिक परंपराएं, सामूहिक जीवन, जीववादी दर्शन एवं उससे भी बढ़कर प्रकृति मित्र के रूप में अपनी पहचान आज के वैश्वीकरण के समय में भी बनाए हुए हैं यह कम जोखिम नहीं है।

2. प्रस्तावित शोध विषय का महत्व

हिंदी साहित्य में आदिवासी चेतना का स्वर इस सदी की एक नवीन सहित्यिक विमर्श 'आदिवासी विमर्श' के रूप में अपनी विशिष्ट पहचान के बदौलत, लंबी संघर्ष यात्रा के बाद भारतीय वाङमय के समृद्ध धारा में एक स्थान बनाती-सी दिख रही है। आदिवासी चेतना आदिमलोगों के मध्य से ही सामाजिक, आर्थिक और उससे भी बढ़कर सांस्कृतिक टकराहट के फलस्वरुप एक साहित्यिक आवाज है। आदिवासी से हमारा अभिप्राय देश के मूल एवं प्राचीनतम निवासियों से है। आज देश आर्थिक, शैक्षणिक और तकनीकी विकास के बल पर चंद्रमा पर उतर चुका है, विकास के पथ पर तेज गति से आगे बढ़ता चला जा रहा है, यह खुशी की बात है। इसके बावजूद भी हमारे देश में करोड़ों आदिवासी जन ऐसे हैं जो सैकड़ो साल पुरानी परंपराओं, मान्यताओं अंधविश्वासों, पाखंडों के सहारे जी रहे हैं। उनकी आबादी देश की जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत के बराबर है। वे जंगली परिस्थितियों में किसी तरह और अमानवीय ढंग से अपने जीवन बिताने को मजबूर हैं। इसमें कोई शंका नहीं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आदिवासियों के लिए योजनाएं बनी, करोडों-अरबों रुपयों का बजट में प्रावधान इनके विकास योजनाओं के लिए किये गये। पर इन योजनाओं का लाभ उनके सुदूर अंचलों तक पहुंचते-पहुंचते माफियाओं, ठेकेदारों और कॉरपोरेटों तक सिमट कर रह गयी है।

आज हमारा देश विश्व की पाँचवी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। इसके बावजूद देश की एक बड़ी आबादी शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के नाम पर आज भी अपनी पुरखौती व्यवस्था पर ही आश्रित हैं। वे

अशिक्षित होने के कारण अपना हक अधिकार और देश के कानून-व्यवस्था, विज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि को ठीक तरह से नहीं समझ पा रहे हैं। जिसके कारण उनके साथ अमानवीय व्यवहार हो रहा है। उन्हें आज आवारा-पूँजीवादी वैश्वीकरण के दौर में बाजार का गुलाम बनाकर रखा गया है। उनकी भाषा, संस्कृति, सामाजिकता, उनके जल, जंगल, जमीन और पहाड़ की ब्रांडिंग कॉरपोरेटों के सहारे हो रही है। वे बेकारी और विस्थापन की चक्की में दबकर छटपटा रहे हैं। बावजूद मुख्य धारा के समाजों द्वारा उनके प्रति न अधिक संवेदना है और न हीं अधिक सरोकार। आदिवासियों के साथ स्थापित मुख्य धारा का व्यवहार-सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक रूप में अव्यावहारिक और अमानवीय है। इसलिए स्थापितों के समृद्ध साहित्य में उनका चेहरा कुरूप, राक्षसी, असुर एवं मायावी दानवी जैसे मिथकीय स्वरूप के रूप में चित्रित कर फ्रेमिंग किए गये हैं। इन्हें फ्रेम तोड़कर बाहर निकालने के लिए आदिवासी चेतना को मुखरता के साथ अपनी साहित्य रचना करने होंगे।

आज भारत ही नहीं पूरे विश्व पर्यावरणीय संकट और परिस्थितियों से जूझ रहा है। इस परिस्थिति में आदिवासियों की जो समृद्ध मौखिक वाचिक साहित्यिक दर्शन है, उसे आज के वैश्विक परिस्थितियों में मान्यता मिलती दिख रही है। आदिवासी साहित्य दर्शन आज के वैश्वीकरण और उत्तर आधुनिकता के युग में मानवीय संवेदना और सरोकार के रूप में एक आशा की किरण सी दिखाई देती है। मैं अपने अनुसंधान के द्वारा आदिवासी दर्शन के परिपेक्ष्य में वैश्विक मानवीय एवं पर्यावरणीय सरोकार से युक्त इसी आदिवासी चेतना के स्वर को साहित्य के माध्यम से विश्व पटल पर रखना चाहता हूँ जो निम्न है–

क. प्रकृति की लय-ताल और संगीत का अनुसरण।

ख. प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और गरिमा का सम्मान।

ग. पुरखा-पूर्वजों के ज्ञान विज्ञान कला-कौशल और इंसानी बेहतरी के अनुभवों के प्रति आभार।

घ. समूचे जीव जगत का सम्मान।

ङ. धन लोलुप और बाजारवादी हिंसा और लालसा का नकार।

च. जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जीजिविषा।

छ. सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव।

ज. धरती को संसाधन की बजाय माँ मानकर उसके बचाव और रचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक।

झ. रंग, नस्ल, लिंग, धर्म आदि का विशेष आग्रह नहीं।

ट. हर तरह के गैर बराबरी के खिलाफ।

ठ. भाषाई और सांस्कृतिक विविधता और आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में।

ड. सामंती, ब्राह्मणवादी, धनलोलुप और बाजारवादी शब्दावलियों, प्रतिकों, मिथकों और व्यक्तिगत माहिमामंडन से असहमति।

ढ़. सह अस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना दार्शनिक आधार मानते हुए रचाव बचाव में यकीन ।

त. सहानुभूति, स्वानुभूति की बजाय सामूहिक अनुभूति का स्वर।

उपर्युक्त आदिवासी दर्शन जो आदिवासियों के चेतनात्मक स्वर के रूप में उनके वाचिक-मौखिक साहित्य और वर्तमान समय में आदिवासी दर्शन को लेकर जो साहित्य आदिवासी लेखको के द्वारा लिखी गई हैं। यानि समकालीन आदिवासी साहित्य विमर्श में भी यह अंकित है। इस प्रकृति सहजीवी आदिवासी दर्शन की प्रासंगिकता आदिकाल में भी उतनी ही थी जितनी आज है। निश्चित रूप से जिस प्रकार से उत्तर आधुनिक समाज जो आज वैश्वीकरण की दौड़ में बेचैन और भाग-दौड़ भरी जिंदगी के साथ-साथ भय, भूख, संत्रास और एकाकीपन जैसे अमानवीय परिस्थितियों से जूझ रही है। फिर से अपने आश्नय की तलाश प्रकृति के सानिध्य में खोजती नजर आ रही है। इस प्रकार से आदिवासी दर्शन और साहित्य चेतना की प्रासंगिकता भविष्य में भी बनी रहेगी इसमें कोई दो मत नहीं है।

3. पूर्व कृत शोध कार्य

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना के स्वर जैसे शोध विषय पर स्वतंत्र रूप से शोध कार्य अब तक संपन्न नहीं हुआ है। आजादी के पश्चात देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा आदिवासी-विमर्श, आदिवासी साहित्य में आदिवासी स्त्री-विमर्श, लोक संस्कृति, साहित्य, कला, भाषा, उनकी मान्यताओं और परंपराओं पर शोध अध्ययन का दौर शुरू हुआ। इसी क्रम में कुछ शोध कार्य संपन्न हुए जो निम्नांकित है:-

1. समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी चेतना चंद्र, गिरधर प्रसाद, शर्मा, सुधीर, 2001, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, पंडित रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय।
2. 21वीं सदी के केंद्रित हिंदी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी जनजीवन संकट एवं संघर्ष-अंजली कुमारी, सक्सेना, शर्मिला, 2021, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट।
3. समकालीन हिंदी कथा साहित्य में चित्रित आदिवासी जीवन का अध्ययन बानो, सायरा, कुमार, नीरज, 2022, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय
4. आदिवासी अस्मिता की अभिव्यक्ति और हिंदी उपन्यास 21वीं सदी के संदर्भ में- शुक्ल, आनंद कुमार, रावल, ज्ञानचंद, 2021, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, गुरुकुल कंगड़ी विश्वविद्यालय।
5. 21 वीं सदी के आदिवासी उपन्यासों में विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रतिनिधिक हिंदी उपन्यासों के परिपेक्ष्य में भाखड़, आदिनाथ शेषराव, चावण सतलप्पा लहू, 2022, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, सावित्री बाई फुले विश्वविद्यालय।
6. 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना रमेश कुमार, अरोड़ा, मुकेश कुमार, 2020, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, पंजाब विश्वविद्यालय।
7. हिंदी कहानियों में आदिवासी अस्मिता एवं चेतना के स्वरूप 1991 से 2015 तक- खान, मनीष कुमार, खान, मोहम्मद साजिद, 2022, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, महात्मा ज्योतिबा फूले रोहिलखंड विश्वविद्यालय।
8. 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी स्त्री पूर्णिमा, मीणा, गजेंद्र कुमार, 2021, स्कूल आफ लैंग्वेज लिटरेचर एंड कल्चर स्टडीज, सेंट्रल यूनिवर्सिटी ऑफ़ गुजरात।
9. हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समुदाय का चित्रण 1991-2010- गोण, रवि, बानो, साइमा, 2017, डिपार्टमेंट आफ हिंदी, सेंट्रल यूनिवर्सिटी ऑफ़ हिमाचल प्रदेश।
10. 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यास में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन का अध्ययन- सुंदरी देवी, कुमार, रश्मि, 2023, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, यूनिवर्सिटी ऑफ़ लखनऊ।

11. समकालीन हिंदी और मराठी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी जीवन का तुलनात्मक अध्ययन- लक्ष्मण, पोतना टोंडाकुर, भीम सिंह, 2020, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, यूनिवर्सिटी ऑफ़ हैदराबाद।

12. आदिवासी विमर्श के संदर्भ में समकालीन हिंदी उपन्यास- राधिका, सी आर, मोहनन, एन, 2020, डिपार्टमेंट ऑफ हिंदी, कोचिन यूनिवर्सिटी आफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी।

4. शोध के आधार ग्रंथ

1. रांगेय राघव– कब तक पुकारू– डायमंड बुक्स दिल्ली, 2022
2. अवस्थी राजेन्द्र– सूरज किरन की छांव– परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, 1997
3. रानी, गुलशेर खाँ– साँप और सीढ़ी– नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2014
4. सिंह, शिव प्रसाद– शैलूष– नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1996
5. संजीव– घार– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
6. संजीव– जंगल जहाँ शुरू होता है– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
7. संजीव– सावधान नीचे आग है– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
8. संजीव– पाँव तले की दूब– सेतु प्रकाशन समूह, उत्तर प्रदेश, 2018
9. वीरेन्द्र जैन– डूब– वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
10. वीरेन्द्र जैन– पार– वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014
11. मिश्नक, श्री प्रकाशन– जहाँ बांस फूलते है– यश पब्लिकेशन, दिल्ली, 2011
12. पुष्पा मैत्रेयी– अल्मा कबूतरी– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
13. मोखाल भगवान दास– काला पहाड़– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
14. मधुकर मणि– पिंजड़े में पन्ना– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
15. मुंडा मंगल सिंह– छैला संदु– राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2004
16. रणेन्द्र– ग्लोबल गॉव का देवता– ज्ञानपीठ वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2022
17. रणेन्द्र– गायब होता देश– पेंगइन बुक्स, दिल्ली, 2014

18. माजी महुआ– मरंग गोरा नीलकंठ हुआ– राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019
19. तेजिंदर– काला पादरी– साहित्य भंडार, नई दिल्ली, 2016
20. देवी महाश्वेता– अग्नि गर्भ– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018
21. देवी महाश्वेता– ग्राम बांग्ला– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016
22. देवी महाश्वेता– जंगल के दावेदार– राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019
23. गुप्ता रमणिका– सीता मौसी– शिल्पायन, दिल्ली, 2014
24. गुप्ता रमणिका– आदिवासी स्वर और नई शताब्दी– वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014
25. पाठक मनमोहन– गगन घटा घहरानी– प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
26. सिंह राकेश कुमार– पठार पर कोहड़ा– भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2003
27. सिंह राकेश कुमार– जो इतिहास में नहीं– वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2020
28. सिंह राकेश कुमार– जहाँ खिले है रक्त पलाश– नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2003

5. शोध की परिकल्पना

पिछले कुछ दशकों से सामाजिक कार्यकर्ता और प्रतिबद्ध लेखकों का ध्यान आदिवासियों पर पड़ा है, तत्पश्चात् साहित्य में एक नए विमर्श जिसे आदिवासी विमर्श के नाम से मुख्य धारा के साहित्यकारों ने पुकारा, शुरू हुई। आज आदिवासी साहित्य मुख्य धारा के अकादमिक एवं राजनीतिक पटल पर अपने को प्रस्थापित करती जा रही है यह खुशी की बात है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संवैधानिक जिम्मेवारी का निर्वहन सरकारों ने भी अपने स्तर से की है भले ही विकास की एक हीन धारा ही उन तक पहुँच पाई हो, आज हो रहे शिक्षा का प्रचार-प्रसार एवं शिक्षा की नई रोशनी में आदिम संतानें भी अपनी भाषाओं में अपनी सामूहिक चेतना और स्वर को लिपिबद्ध कर रहें हैं यह सुखद है। भारतीय समाज व्यवस्था के सीमांत से बाहर सुदूर जंगलों, अंचलों, गिरी- कुहरों, पर्वतों और उनके खंडहरों में आदिकाल से जो लोग रह रहे है उनकी पहचान आदिवासी यानी भारत के मूल निवासी के रुप में हो सकी है, जिसे भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजाति के नाम से पुकारा गया है। आज वे मुख्यधारा के वैश्वीकरण के दौर में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक जैसे कतिपय

कारणों से बहुत पिछड़ चुके हैं। यूं कहें की सभ्यता के दौर में मुख्यधारा से बहुत पीछे छूट गए हैं। उन्हें मुख्य धारा में शामिल किए बगैर भारत संपूर्ण विकास दर को हासिल नहीं कर सकता है।

विश्व के नृवैज्ञानिकों का मानना है कि मानव सभ्यता का विकास ही जंगलों की गोद से हुई है, इसप्रकार से हम सभी कुछ पीढ़ी पूर्व आदिवासी ही थे इसमें कोई शंका नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनसंख्या का एक वृहद वर्ग आज भी आदिम जीवन जीने को मजबूर हैं। विकास का प्रकाश उनके पास जाते-जाते धुंधला-सा हो जाता है। आदिवासी के लिए संवैधानिक प्रावधान होने के बावजूद भी वे सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व राजनीतिक रूप से आज वे हाशिये पर हैं।

आज के परिस्थितियों में जब भारत सरकार यह दावा करती है कि हम जल्द 5 ट्रिलियन डॉलर इकोनामी वाले देश बन जाएंगे, भारत विकास की राह पर सरपट दौड़ लगा रही है, चंद्रमा पर हमारे विकास के कदम अंतरिक्ष यान के रूप में पहुंच चुके हैं, तब समाज के एक वर्ग आज भी अमानवीय जीवन जीने को अभिशप्त हैं। भारतीय मुख्य धारा के स्थापित साहित्य में उनकी चर्चाएं जरूर हुई हैं, पर वह उनका रूप मिथकीय है अर्थात वे असुर, राक्षस, दानव, अमानवीय प्राणी आदि रूप में स्थित हैं। जिसका डिकोडिंग वे अपनी समृद्ध साहित्यिक-मौखिक एवं वाचिक परंपरा के सहारे वर्तमान में अनुसंधान के द्वारा कर भी रहे हैं। अतीत में हुए देवासुर संग्राम से लेकर मध्यकाल में राजाओं, सामंतो और फिर मुगलों एवं अंग्रेजों ने उनके शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीति शोषण-उत्पीड़न किया। गुलामी के दौर में भी उन्हें एक साथ कई दुश्मनों से सामना करना पड़ रहा था, जहाँ एक ओर वे गोरे अंग्रेजों से लड़ रहे थे, वहीं दूसरी ओर देशी औपनिवेशिक शासक-सामन्तों, राजवाड़ों, सूदखोर-महाजनों, एवं अन्य दिकूओं का सामना कर रहे थे। आज स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी उन्हें चालाक राजनीतिक साजिशों के शिकार होना पर रहा है, रणेंद्र के अनुसार आकाशचारी देवताओं, कॉर्पोरेट घरानों के सहारे उनके जल, जंगल, जमीन को हड़पा जा रहा है, उन्हें खदेड़ा जा रहा है, उन्हें विस्थापित किया जा रहा है।

आज आदिवासियों के द्वारा अपना खुद भी साहित्यिक सृजन साहित्यिक आंदोलन में तब्दील हो पाया है, फलस्वरुप मुख्य धारा के स्थापित साहित्यों में भी उनकी रचनाओं की चर्चा जोर होने लगी है। उनके जीवन के श्याम पक्ष एवं क्रूर कालरात्रि का चित्रांकन-कहानी, उपन्यास, नाटक कविता के माध्यम से हो रही है। अपनी

साहित्य सृजन से आदिवासियों में एक साहित्यिक स्वर- चेतना जगी है। आज के दौर हम यह कह सकते हैं कि वह दिन दूर नहीं जब आदिवासियों का विकास भी मुख्यधारा की तरह हो पाएगा।

6. शोध की प्रविधि

प्रस्तावित शोध प्रारुप स्वातंत्रोत्तर हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना के स्वर जैसे शोध संक्षिप्तिका के विश्लेषण के लिए आगमन और निगमन पद्धतियों से जहां संभावित अनुमान का तार्किक विश्लेषण संभव है, वही आगमन पद्धति के द्वारा अन्वेषित तथ्यों का विश्लेषण। निगमन पद्धति से प्रस्तुत शोध प्रारूप के स्वातंत्रोत्तर हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी चेतना के स्वर के तथ्यपरक अवधारणाओं के वैज्ञानिक विश्लेषण में सहायता मिलेगी। वहीं आगमन पद्धति के परंपरा, उनकी सांस्कृतिक चेतना, साहित्य दृष्टि एवं युगीन चेतना का विश्लेषण हो सकेगा। साथ ही साक्षात्कार और प्रश्नावली प्रविधि का भी समुचित प्रयोग प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में हो सकेगा।

7. शोध अध्यायों का विभाजन

प्रथम अध्याय

1. 21वीं सदी में आदिवासी विमर्श की आवश्यकता
2. भारत में आदिवासियों की आर्थिक स्थिति और सांस्कृतिक मूल्य

द्वितीय अध्याय

1. हिंदी उपन्यासों में आदिवासी चेतना के स्वर
2. आदिवासियों की सांस्कृतिक अस्मिता और हिंदी उपन्यास

तृतीय अध्याय

1. आजादी के बाद हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन
2. हिंदी उपन्यासों में आदिवासियों की संवेदनात्मक मूल्य

चतुर्थ अध्याय

1. उपन्यासों में आदिवासी की धार्मिक आस्था
2. उपन्यासों में कृषक जीवन और विस्थापन

पंचम अध्याय

1. हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी अस्मिता के प्रश्न

2. हिंदी उपन्यासों में आदिवासी नारियों की स्थिति

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

1. शोध की मौलिक मान्यताऐं

2. राष्ट्रीय एकता और अखंडता के दृष्टि से प्रस्तुत शोध का महत्त्व

शोध प्रस्तावित ग्रन्थों की सूची :

1. डॉ० मोहन चव्हाण– आदिवासी साहित्य विमर्श– अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2019
2. केदार प्रसाद मीणा– आदिवासी कथा जगत– अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2016
3. डॉ० रविशंकर शुक्ल– समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन– प्रलेक प्रकाशन प्रा०लि०, मुम्बई महाराष्ट्र, 2022
4. गंगा सहाय मीणा– आदिवासी और हिन्दी उपन्यास– अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2021
5. केदार प्रसाद मीणा– क्रांतिकारी आदिवासी– अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, दिल्ली, 2012
6. अनुज लुगुन– आदिवासी अस्मिता प्रश्नुत्व और प्रतिरोध– अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2021
7. वंदना टेटे– आदिवासी साहितय परंपपरा और प्रयोजन– नोशन प्रेस, इंडिया
8. रमणिका गुप्ता– आदिवासी साहित्य यात्रा– राधा कृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, 2016
9. वंदना टेटे– आदिवासी दर्शन और साहितय– नोशन प्रेस– इंडिया
10. महाश्वेता देवी– आदिवासी कथा– वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017
11. गंगा सहाय मीणा– आदिवासी चिंतन की भूमिका– अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2021
12. रमणिका गुप्ता– भारत का आदिवासी स्वर– अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2022

13. रमणिका गुप्ता– भारत का आदिवासी लेखक परिचय एवं अवदान– कॉनसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2006

14. रमणिका गुप्ता– आदिवासी लोक–1– शिल्पायन, दिल्ली, 2012

15. रमणिका गुप्ता– आदिवासी लोक–2 शिल्पायन, दिल्ली, 2012

16. रमणिका गुप्ता– आदिवासी सृजन मिथक एवं अन्य लोक कथाएँ– किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2023

17. रमणिका गुप्ता– पूर्वोत्तर का आदिवासी सृजन स्वर– अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018

18. रमणिका गुप्ता– पूर्वोत्तर का आदिवासी स्वर– अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018

19. रमणिका गुप्ता– आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी– वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017

20. महादेव टोप्पो– सभ्यों के बीच आदिवासी– अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2023

21. हॉसदा सौभेन्द्र शेखर– आदिवासी नहीं नाचेंगे– राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 2018

22. एच० वासुदेव, आर०के०पाल– आदिवासी स्वर–1, संघर्षों के संधिपत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017

23. कुमार चौहान, श्रीमती रेनू चौहान– आदिवासी स्वर–4, सामाजिक आर्थिक जीवन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017

शोध निर्देशक

डॉ० आनन्द प्रकाश गुप्ता
एसोसिएट प्रोफेसर
विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा

शोधप्रज्ञ

प्रवीण कुमार मंडल
विश्वविद्यालय हिन्दी-विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
पैट क्रमांक- 22090329